

प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

चार्वाक या लोकायत दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की उपस्थिति के साहित्यिक प्रमाण अति प्राचीन काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तनधारा ने उसकी समालोचना भी की है। जैन धर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों में भी इस भौतिकवादी जीवन-दृष्टि का प्रतिपादन एवं उसकी समीक्षा अति प्राचीन काल से ही मिलने लगती है। जैन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में महावीर के युग से लेकर आज तक लगभग २५०० वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में इस विचारधारा की प्रस्तुति एवं समालोचना होती रही है। इस समग्र विस्तृत चर्चा को प्रस्तुत निबन्ध में समेट पाना सम्भव नहीं है, अतः हम प्राचीन प्राकृत आगम साहित्य तक ही अपनी इस चर्चा को सीमित रखेंगे। प्राचीन प्राकृत जैन आगम साहित्य में ऋषिभाषित एक ऐसा ग्रन्थ है, जो चार्वाक दर्शन को भौतिकवादी और स्वार्थपरक अनैतिक जीवन दृष्टि का समर्थक न मानकर उसे एक मूल्यपरक सदाचारी जीवन-दृष्टि का सम्पोषक और भारतीय श्रमण संस्कृति का अंग मानता है।

प्राचीनतम प्राकृत आगम साहित्य में मुख्यतया आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ई.पू. तीसरी के बीच निर्मित हुए हैं, ऐसा माना जाता है^१। इसके अतिरिक्त उपांग साहित्य के एक ग्रन्थ राजप्रश्नीय को भी हमने इस चर्चा में समाहित किया है। इसका कारण यह है कि राजप्रश्नीय का वह भाग जो चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण और समीक्षा करता है, एक तो चार्वाक दर्शन के पूर्वपक्ष की स्थापना एवं उसकी समीक्षा दोनों ही दृष्टि से अति समृद्ध है, दूसरे अति प्राचीन भी माना जाता है, क्योंकि ठीक यही चर्चा हमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भगवान बुद्ध और राजा पयासी के मध्य होने का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा में इस चर्चा को पार्श्वपत्य परम्परा के भगवान महावीर के समकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा पयासी के मध्य तथा बौद्ध त्रिपिटक में

भगवान बुद्ध और राजा पयासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया गया है। यद्यपि कुछ जैन आचार्यों ने पयासी का संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है किन्तु देववाचक, सिद्धसेनगणि, मलयगिरि और मुनिचन्द्रसूरि^२ ने पयासी का संस्कृत रूप प्रसेनजित ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक लगता है। प्रसेनजित को श्वेताम्बिका (सेर्यविया) नगरी का राजा बताया गया है जो इतिहाससिद्ध है। उनका सारथी चित्त केशीकुमार को श्रावस्ती से यहां केवल इसीलिये लेकर आया था कि राजा की भौतिकवादी जीवन दृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। कथावस्तु की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से ही इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया गया है।

प्रस्तुत विवेचना में मुख्यरूप से चार्वाक दर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद एवं उसकी परलोक तथा पुण्य-पाप की अवधारणाओं की पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ समीक्षाएं भी प्रस्तुत की गई हैं। इनमें भी ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में चार्वाकों की जीवन-दृष्टि का जो प्रस्तुतीकरण है, वह उपर्युक्त विवरण से कुछ विशिष्ट प्रकार का है। उसमें दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देसोक्कल, सव्वोक्कल के नाम से इनके जिन पाँच प्रकारों का उल्लेख है,^३ वह भी अन्यत्र किसी भी भारतीय दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं राजप्रशनीय में चार्वाक दर्शन की स्थापना और खण्डन, दोनों के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे भी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। प्राकृत आगमिक-व्याख्या साहित्य में मुख्यतः विशेषावश्यकभाष्य (छठी शती) के गणधरवाद^४ में चार्वाक दर्शन की विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा-महावीर और गौतम आदि ११ गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। अन्य आगमिक संस्कृत टीकाओं (१०वीं-११वीं शती) में भी चार्वाक दर्शन की जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षाओं में दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। चूर्णि, वृत्ति, टीका आदि के अतिरिक्त जैन दार्शनिक ग्रन्थों में भी भौतिकवादी जीवन दृष्टि की समीक्षाएं उपलब्ध हैं। किन्तु इन सबको तो किसी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही समेटा जा सकता है। अतः इस निबन्ध की सीमा मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए हम अपनी विवेचना को पूर्व निर्देशित प्राचीन स्तर के प्राकृत आगमों तक ही सीमित रखेंगे।

आचारांग में लोकसंज्ञा के रूप में लोकायत दर्शन का निर्देश

जैन आगमों में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अतिप्राचीन माना जाता है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि इस ग्रन्थ में स्वयं महावीर के वचनों का संकलन

हुआ है। इसका रचनाकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई.पू. माना जाता है। आचारांग में स्पष्ट रूप से लोकायत दर्शन का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लोकायत दर्शन की पुनर्जन्म का निषेध करने वाली अवधारणा की समीक्षा की गई है। सूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि कुछ लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली) है, मैं कहाँ से आया हूँ और यहाँ से अपना जीवन समाप्त करके कहाँ जन्म ग्रहण करूँगा? सूत्रकार कहता है कि व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली) है, जो इन दिशाओं और विदिशाओं में संचरण करती है और मैं भी ऐसा ही हूँ, वस्तुतः जो यह जानता है - वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।^६ इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध चार बातों की स्थापना की गई है - आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। आत्मा की स्वतन्त्र और नित्य सत्ता को स्वीकार करना आत्मवाद है। संसार को यथार्थ मानकर आत्मा को लोक में जन्म-मरण करने वाला समझना लोकवाद है। शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों में विश्वास करना कर्मवाद है। आत्मा को शुभाशुभ कर्मों का कर्ता-भोक्ता एवं परिणामी (परिवर्तनशील) मानना क्रियावाद है। इसी प्रकार आचारांग में लोकसंज्ञा का परित्याग करके इन सिद्धान्तों में विश्वास करने का निर्देश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि आचारांग में लोकायत या चार्वाक दर्शन का निर्देश लोक संज्ञा के रूप में हुआ है।^६ लोकसंज्ञा से ही लोकायत नामकरण हुआ होगा। यद्यपि इस ग्रन्थ में इन मान्यताओं की समालोचना तो की गई है किन्तु उसकी कोई तार्किक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई है।

सूत्रकृतांग में लोकायत दर्शन

आचारांग के पश्चात् सूत्रकृतांग का क्रम आता है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध को भी विद्वानों ने अतिप्राचीन (लगभग ई.पू. चौथी शती) माना है। सूत्रकृतांग के प्रथम अध्याय में हमें चार्वाक दर्शन के पंचमहाभूतवाद और तज्जीवतच्छरीवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें पंचमहाभूतवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और आकाश ऐसे पाँच महाभूत माने गये हैं। उन पाँच महाभूतों से ही प्राणी की उत्पत्ति होती है और देह का विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता है।^७ साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति चाहे मूर्ख हो या पण्डित प्रत्येक की अपनी आत्मा होती है जो मृत्यु के बाद नहीं रहती। प्राणी औपपातिक अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करने वाले नहीं हैं। शरीर का नाश होने पर देही अर्थात् आत्मा का भी नाश हो जाता है। इस लोक से परे न तो कोई लोक

है और न पुण्य और पाप ही है।^८ इस प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का उल्लेख तो मिलता है किन्तु यहाँ भी उनकी कोई स्पष्ट तार्किक समालोचना परिलक्षित नहीं होती। यद्यपि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की समीक्षा प्रस्तुत की गई है, किन्तु विद्वानों ने उसे किञ्चित् परवर्ती माना है। अतः उसके पूर्व हम उत्तराध्ययन का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

उत्तराध्ययन में लोकायतदर्शन

उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन को जन-श्रद्धा (जन-सिद्धि) कहा गया है।^९ सम्भवतः लोकसंज्ञा और जनश्रद्धा ये लोकायत दर्शन के ही पूर्व नाम हैं। उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सांसारिक विषय ही हमारे प्रत्यक्ष के विषय हैं। परलोक को तो हमने देखा ही नहीं। वर्तमान के काम भोग हस्तगत हैं जबकि भविष्य में मिलने वाले (स्वर्ग-सुख) अनागत अर्थात् संदिग्ध हैं। कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं ? इसलिए मैं तो जनश्रद्धा के साथ होकर रहूँगा।^{१०} इस प्रकार उत्तराध्ययन के पंचम अध्याय में चार्वाकों की पुनर्जन्म के निषेध की अवधारणा का उल्लेख एवं खण्डन किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्याय में भी चार्वाकों के असत् से सत् की उत्पत्ति का एवं पंचमहाभूत से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, जो वस्तुतः असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। यद्यपि उत्तराध्ययन में असत्कार्यवाद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह असत्कार्यवाद के पक्ष में न जाकर सत्कार्यवाद के पक्ष में ही जाता है। उसमें कहा गया है कि जैसे - अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल असत् होकर भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव भी असत् होकर ही उत्पन्न होता है और उस शरीर का नाश हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है।^{११}

सम्भवतः उत्तराध्ययन में चार्वाकों के असत्कार्यवाद की स्थापना के पक्ष में ये सत्कार्यवाद की सिद्धि करने वाले उदाहरण इसीलिये दिये गये होंगे, ताकि इनकी समालोचना सरलता पूर्वक की जा सके। उत्तराध्ययन में आत्मा को अमूर्त होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं माना गया है और अमूर्त होने से नित्य कहा गया है।^{१२} उपरोक्त विवरण से चार्वाकों के सन्दर्भ में निम्न जानकारी मिलती है -

१. चार्वाक दर्शन को “लोकसंज्ञा” और “जनश्रद्धा” के नाम से अभिहित किया जाता था।

२. चार्वाक दर्शन आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता था अपितु पंचमहाभूतों से चेतना की उत्पत्ति बताता था।

३. कारणतावाद में वह असत्कार्यवाद अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करता था।

४. शरीर के नाश के साथ आत्मा के विनाश को स्वीकार करता था तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करता था। पुनर्जन्म की अस्वीकृति के साथ-साथ वह परलोक अर्थात् स्वर्ग-नरक की सत्ता को भी अस्वीकार करता था।

५. वह पुण्य पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों को भी अस्वीकार करता था, अतः कर्म सिद्धान्त का विरोधी था।

६. उस युग में दार्शनिकों का एक वर्ग अक्रियावाद का समर्थक था। जैनों के अनुसार अक्रियावादी वे दार्शनिक थे, जो आत्मा को अकर्ता और कूटस्थनित्य मानते थे। आत्मवादी होकर भी शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल (कर्मसिद्धान्त) के निषेधक होने से ये प्रच्छन्न चार्वाकी ही थे।

इस प्रकार आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन के जो उल्लेख हमें उपलब्ध होते हैं, वे मात्र उसकी अवधारणाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। उनमें इस दर्शन की मान्यताओं से साधक को विमुख करने के लिए इतना तो अवश्य कहा गया है कि यह विचारधारा समीचीन नहीं है, किन्तु इन ग्रन्थों में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण और निरसन दोनों ही न तो तार्किक है और न विस्तृत ही।

सूत्रकृतांग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा^{१३}

चार्वाकों अथवा तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का तार्किक दृष्टि से प्रस्तुतीकरण और उसकी तार्किक समीक्षा का प्रयत्न जैन आगम साहित्य में सर्व प्रथम सूत्रकृतांग के द्वितीय पौण्डरिक नामक अध्ययन में और उनके पश्चात् राजप्रश्नीय सूत्र में उपलब्ध होता है। अब हम सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का प्रस्तुतीकरण करेंगे और उसकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

तज्जीवतच्छरीरवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि “पादतल से ऊपर मस्तक के केशों के अग्र भाग से नीचे तक तथा समस्त त्वक्पर्यन्त जो शरीर है, वही जीव है। इस शरीर के जीवित रहने तक ही यह जीव जीवित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए शरीर के अस्तित्व पर्यन्त ही जीवन का अस्तित्व है। इस सिद्धान्त को युक्तियुक्त समझना चाहिए। क्योंकि जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि शरीर अन्य है और जीव अन्य है,

वे जीव और शरीर को पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखा सकते। वे यह भी नहीं बता सकते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व है या वह परिमण्डलाकार अथवा गोल है। वह किस वर्ण और किस गन्ध से युक्त है अथवा वह भारी है, हल्का है, स्निग्ध है या रुक्ष है, अतः जो लोग जीव और शरीर को भिन्न नहीं मानते उनका ही मत युक्तिसंगत है।” क्योंकि जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों की तरह पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता, यथा -

- | | |
|----------------------------|-----------------------------|
| १. तलवार और म्यान की तरह | २. मुंज और इषिका की तरह |
| ३. मांस और हड्डी की तरह | ४. हथेली और आंवले की तरह |
| ५. दही और मक्खन की तरह | ६. तिल की खली और तेल की तरह |
| ७. ईख और उसके छिलके की तरह | ८. अरणि और आग की तरह |

इस प्रकार जैनागमों में प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम देहात्मवादियों के दृष्टिकोण को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पुनः उनकी देहात्मवादी मान्यता के आधार पर उनकी नीति सम्बन्धी अवधारणाओं को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है -

यदि शरीर मात्र ही जीव है तो परलोक नहीं है। इसी प्रकार क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, भला-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक आदि भी नहीं हैं। अतः प्राणियों के वध करने, भूमि को खोदने, वनस्पतियों को काटने, अग्नि को जलाने, भोजन पकाने आदि क्रियाओं में भी कोई पाप नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में देहात्मवाद की युक्तियुक्त समीक्षा न करके मात्र यह कहा गया है कि ऐसे लोग हमारा ही धर्म सत्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं और श्रमण होकर भी सांसारिक भोग विलासों में फंस जाते हैं।

इसी अध्याय में पुनः पंचमहाभूतवादियों तथा पंचमहाभूत और आत्मा मानने वाले सांख्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सूचना के अनुसार पंचमहाभूतवादी स्पष्ट रूप से यह मानते थे कि इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ है जिनसे हमारी क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरक-गति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति; यहाँ तक कि तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी होती है, क्योंकि आत्मा तो अकर्ता है।

उस भूत समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए जैसे कि- पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पाँचवा महाभूत है। ये पाँच महाभूत किसी कर्ता के

द्वारा निर्मित नहीं हैं, न ही ये किसी कर्ता द्वारा बनाये हुए हैं, ये किये हुये भी नहीं हैं, न ही ये कृत्रिम हैं और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पाँचो महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं तथा अवध्य और आवश्यक कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतन्त्र एवं शाश्वत नित्य हैं। यह ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऐसा कोई भी सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होता जिसमें मात्र चार महाभूत (आकाश को छोड़कर) मानने वाले चार्वाकों का उल्लेख हुआ हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पंचमहाभूतवादियों के उपरोक्त विचारों के साथ-साथ पंचमहाभूत और छठा आत्मा ऐसे छः तत्त्वों को मानने वाले विचारकों का भी उल्लेख हुआ है। इनकी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही जीवकाय है, इतना ही अस्तिकाय है और इतना ही समग्र लोक है। पंचमहाभूत ही लोक का कारण है। संसार में तृण-कम्पन से लेकर जो कुछ होता है वह सब इन पाँच महाभूतों से ही होता है। आत्मा के असत् अथवा अकर्ता होने से हिंसा आदि कार्यों में पुरुष दोष का भागी नहीं होता, क्योंकि सभी कार्य भूतों के है सम्भवतः यह विचारधारा सांख्य दर्शन का पूर्ववर्ती रूप है। इसमें पंचमहाभूतवादियों की दृष्टि से आत्मा को असत् माना गया है तथा पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मा को मानने वालों की दृष्टि से आत्मा को अकर्ता कहा गया है। सूत्रकृतांग इनके अतिरिक्त ईश्वर कारणवादी और नियतिवादी जीवन दृष्टियों को भी कर्म सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण मिथ्यात्व का प्रतिपादक ही मानता है। इस प्रकार ऋषिभाषित के देशोत्कल और सूत्रकृतांग के पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मवादियों के उपरोक्त विवरण में पर्याप्त रूप से निकटता देखी जा सकती है। जैनों की मान्यता यह थी कि वे सभी विचारक मिथ्यादृष्टि हैं, जिनकी दार्शनिक मान्यताओं में धर्माधर्म व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती है। हम यहाँ यह देखते हैं कि यद्यपि सूत्रकृतांग में शरीर-आत्मवाद की स्थापना करते हुए देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, इस मान्यता का तार्किक रूप से निरसन किया गया है, किन्तु यह मान्यता क्यों समुचित नहीं है? इस सम्बन्ध में स्पष्टतया कोई भी तर्क नहीं दिये गये। सूत्रकृतांग देहात्मवाद के समर्थन में तो तर्क देता है किन्तु उसके निरसन में कोई तर्क नहीं देता। यहाँ हमने आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन की अपेक्षा से चार्वाक दर्शन की चर्चा की है, ऋषिभाषित और राजप्रश्नीय की अपेक्षा से चार्वाक दर्शन की समीक्षा अग्रिम लेखों में करेंगे।

सन्दर्भ :

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-१, भूमिका पृ. ३९
२. राजप्रश्नीयसूत्र (मधुकर मुनि), भूमिका पृ. १८
३. ऋषिभाषित (इसिभासियाई) अध्याय २०
४. विशेषावश्यकभाष्य गाथा १५४९ - २०२४
५. आचारंग (सम्पा० मधुकर मुनि) १/१/१/१-३
“एवमेगोसिं णो णातं भवति-अत्थि मे आया उववाइए...
... से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी।”
६. ‘परिण्णाय लोग सण्णं सव्वसो’ आचारंग १/२/६/१०४.
७. सूत्रकृतांग (मधुकर मुनि) १/१/१/७-८
८. वही ११-१२
९. जणेणसद्धिं होक्खामि, उत्तराध्ययनसूत्र ५/७
१०. वही ५/५-७
११. जहा य अग्गी अरणी उ सन्तो खीरे घटां तेल्ल महातिल्लेसु ।
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिद्धे ।
..... उत्तराध्ययनसूत्र, १४/१८
१२. नो इन्दियग्गेज्झं अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होई निच्चो। वही, १४/१९
१३. सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध अध्याय १, सूत्र ६४८-६५६

